जैनधर्म की विश्व को मौलिक देन : एक चिन्तन

डॉ० कस्तूर चन्द 'सुमन'

सांसारिक स्थिति को देखते हुए सम्प्रति यही अनुभव किया जा रहा है, कि संसार शान्ति का पिपाषु है। उसकी पिपाषा-शान्ति अभयस्थिति में है और अभयस्थिति का मूलाधार दिखाई देती है सुरक्षा, जिसका सद्भाव प्रेमाश्रित है; जिस प्रेम या हार्दिक स्नेह को हम अहिंसा कहकर पुकारते हैं, और उसे धार्मिक स्वरूप प्रदान करते हैं।

जैनधर्म में अहिंसात्मक-भावों का अंकन जीवरक्षार्थ किया गया है। जीव हितैषी होने के कारण वे सर्व-ग्राह्य हो गए हैं। वैदिक और बौद्धादि अन्य धर्मों में निर्देशित अहिंसा की अपेक्षा जैनधर्म की अहिंसा में "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः" के सर्वाधिक भावों का अंकन दिखाई देता है। सूर्यास्त के पश्चात् भोजन-पानादि न करना, पानी छानकर पीना आदि क्रियाएं जीवसुरक्षा-प्रधान अहिंसा धर्म की ही प्रतीक हैं।

अहिंसा प्रधान धर्मों में जैनधर्म उच्चकोटि का धर्म माना गया है। इस धर्म में जीव-हत्या की बात तो बहुत दूर है, जीव-हत्या की कल्पना को भी महापाप की संज्ञा दी गई है। अहिंसा धर्म के अनुयायी हिंसक-भाव न मन में विचारते हैं, न वचन से उचारते हैं और न ही किसी को ऐसे निंद्य कर्म हेतु प्रोत्साहित करते या आज्ञा देते हैं।

अहिंसा का मार्मिक रहस्योद्घाटन करते हुए **यथा धीवरकर्षको** कहकर जैनधर्म ने ही संभवतः सर्वप्रथम यह कहा था कि हिंसा-भावों से युक्त धीवर भले ही हिंसा न करे किन्तु हिंसागत पाप से अलिप्त नहीं रह पाता है, जबकि कृषक हिंसा करते हुए भी हिंसागत भाव न होने के कारण हिंसा-दोषों से अलिप्त बना रहता है।

इसी प्रकार सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए जैनधर्म ने ही संभवतः सर्वप्रथम यह उद्घोषणा की थी कि अग्नि, जल, वायु, वनस्पति और पर्वतों में भी आत्मा निवास करती है, वे सचेतन हैं तथा उनमें भी मनुष्यों के समान दुःखानुभूति होती है। अतः इन्हें भी पीड़ित नहीं करना चाहिए।

जीविका के संबंध में भी जैनधर्म का चिन्तन अनठा ही है। इस धर्म में उपदेश दिया गया है कि श्रावकों को अपनी आजीविका **मधुकरवृत्ति** से करनी चाहिए। इससे यही अर्थ फलित होता है कि जैनधर्म चाहता है कि जैसे भ्रमर फूल को हानि पहुंचाए बिना ही पराग का पान करता है, वैसे ही जीवों को बिना कष्ट दिए सभी को अपनी आजीविका अर्जित करनी चाहिए।

इस प्रकार अहिंसात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से जैसा चिन्तन जैन धर्म में प्रस्तुत किया गया है, वैसा अन्यत्र नहीं है। इतर धर्मों में प्रेमोपदेश अवश्य उपलब्ध है, परन्तु उसका संबंध केवल मनुष्यों से दर्शाया गया है, मनुष्येतर जीवों की उपेक्षा की गई है। अन्य धर्मों में एक ओर दया को धर्म का मूल दर्शाया गया है तो दूसरी ओर यज्ञादि-संबंधी उपदेश देकर विरोधाभास भी उत्पन्न कर दिया गया है, जबकि जैन धर्म में ऐसे भाव कहीं भी नहीं दर्शाये गए हैं। सर्वत्र एक रूपता ही भावों में प्राप्त होती है।

जैन धर्म का ही प्रभाव था जो कि जीव-दया से प्रेरित होकर भगवान् महावीर ने पशु बलिकारी यज्ञादि का अपने जीवन काल में कमर कसकर विरोध किया था, और "जियो और जीने दो" का नारा बुलन्द कर अहिंसा-धर्म की ओर समाज को आकृष्ट किया था। बीसवीं सदी के महान् संत महात्मा गांधी ऐसे ही अहिंसा के पुजारी थे। **अहिंसा परमो धर्मः** की मान्यता जैन धर्म ने ही प्रस्तुत की। यही कारण है कि यह वाक्य आज जैन धर्म का पर्यायवाची नाम माना जाने लगा है।

इस प्रकार अहिंसात्मक चिन्तन जैन धर्म की विश्व के लिए एक ऐसी मौलिक देन है, जिससे न केवल मनुष्यों को बल्कि मनुष्येतर सभी शान्ति पिपाषु जीवधारियों को शान्ति प्राप्त हो सकेगी। सांसारिक मरणभय दूर हो सकेगा और जीवन जी सकेंगे सभी सुख और शान्ति पूर्वक।

जैन धर्म की द्वितीय मौलिक देन है सत्य। बौद्ध-धर्म में चार आर्य सत्यों के रूप में जैसा सत्य का विभाजन किया गया है, जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म में ऐसी कोई सत्य-संबंधी विभाजन रेखा परिलक्षित नहीं होती है। इस धर्म में सत्य का तात्पर्य केवल सत्य बोलने मात्र से नहीं है। यहां सत्य का तात्पर्य ऐसे सम्भाषण से होता है जिसमें सुन्दरता और मधुरता का समावेश रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हित-मित-प्रिय गुणों से पूर्ण होने पर ही कथन में सत्यता कही जावेगी। अथवा सत्य का हितमित प्रिय होना परमावश्यक है।

ऐसे सत्य के लिए क्षमा, निर्भयता और निर्लोभता जैसे गुणों का सद्भाव जीवन में आवश्यक है क्योंकि क्रोध, भय, और लोभावस्था में सत्य का पालन नहीं हो पाता है। संस्कृत के विद्वानों ने भी **हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः** कहकर हित-मित-प्रिय गुणों की ओर ही संकेत किया है और परोक्ष रूप से उक्त अभिमत को ही मान्यता प्रदान की है।

ऐसे सत्यान्वेषी सांसारिक कष्ट से भयभीत नहीं होते हैं। आत्म कल्याणार्थ सिंहवृति से जीवनयापन करते हुए आगे बढ़ते हैं तथा सत्य को समझ कर वे जीवन में क्रिया रूप में उसे परिणत करते हैं। सत्याचरणी मुनिजन यही कारण है कि निर्भयता पूर्वक विचरते हैं। क्योंकि वे स्वहित तो करते ही हैं परन्तु जीवहित का भी पूर्ण ध्यान रखते हैं। सत्य की यथार्थता के दर्शन मुनियों में ही होते हैं।

जैन धर्म में समझाये गए जीवाजीवादिक सप्त तत्त्वों की यथार्थता का बोध ही सत्य प्रतीत होता है क्योंकि तत्त्व-बोध में जीव का कल्याण निहित है, जो कि सत्य का एक अंग है। सत्याचरण अनुभव में आता है कि बहुत कठिन है, फिर भी सत्य यह ही है कि सत्य जाने पहिचाने बिना जीव को शान्ति की उपलब्धि नहीं है। ऐसे कल्याणकारी सत्य का गहराई से निरूपण कर आदर्श प्रस्तुत करना जैन धर्म की द्वितीय मौलिक देन है।

सदाचरण संबंधी चिंतन इस धर्म की तृतीय विशेषता है। सदाचारिता पर इतर धर्मों की अपेक्षा इस धर्म में अधिक बल दिया गया है। इस हेतु इस धर्म ने अनेक ऐसे नियम एवं आचार संबंधी तथ्यों का समावेश किया है तथा उनकी गहराई में प्रवेश कर बारीकी से विचार करते हुए पंच-महाव्रत-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह का अतिचारों सहित वर्णन कर सामाजिक व्यवस्था एवं शान्ति बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। ये महाव्रत मनसा-वाचा-कर्मणा पालनीय बताये गए हैं।

सदाचारिता के लिए जैन धर्म ने जीवन में—क्षमा, नम्रता, सौजन्यता, सत्य, स्वच्छता, आत्म संयम, पवित्रता, त्याग, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य गुणों का समावेश आवश्यक बताया है, तथा प्रत्येक को धर्म कहा है। सामायिक, प्रतिक्रमण, व्रतोपवास जैसे उपाय भी दर्शाये गए हैं जिनसे कि सदाचारिता में स्थिरता बनी रहती है।

डॉ० विद्याधर महाजन ने स्पष्ट शब्दों में अपनी कृति प्राचीन भारत का इतिहास (१९७३ ई०) के पृष्ठ १७४ में लिखा है कि "जीवन की पवित्रता की दृष्टि से जैन धर्म, बौद्ध धर्म की अपेक्षा पर्याप्त आगे रहा है।" इस कथन से यह अर्थ निष्पन्न होता है कि जीवन को पवित्र बनाने में अन्य धर्मों की अपेक्षा जैन धर्म ने अधिक गहराई से चिंतन प्रस्तुत किया है तथा समाज को सदाचरण की ओर प्रेरित कर तदनुकूल आचरण बनाये रखने की महती आकांक्षा प्रकट की है। इससे यह स्पष्ट है कि सदाचरण के अभाव में सामाजिक अशान्ति उत्पन्न होती है और पग-पग पर समाज कष्ट का अनुभव करता है। अतः कहा जा सकता है कि कल्याणकारी सदाचरण संबंधी उक्त नियमादि का गम्भीर चिन्तन जैन धर्म की मौलिक देन है, जो नियम सामाजिक सुख-शान्ति के स्रोत प्रमाणित हुए हैं।

चतुर्थ मौलिक देन है जैन धर्म की विश्व के लिए उसकी कर्म व्यवस्था, आत्मा और ईश्वर के संबंध में विचार। कार्मिक व्यवस्था का निर्माण कर जैन धर्म ने एक कल्याणकारी भूमिका का निर्वाह किया है। सुख-दुःख, जीवन-मरण, रूप-रंग, जाति-कुल, आदि स्वकृत कर्मों के फल दर्शाये गए हैं। जीवन में प्राप्त विघ्न-बाधाएं तथा ज्ञान-दर्शनादि साता-असाता कर्म जनित फल हैं। प्रत्येक प्राणी को इन्हें अनिवार्य रूपेण भोगना पड़ता है।

जैन धर्म चूंकि आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता है तथा उसकी यह मान्यता है कि प्रकाश की भांति इसका अस्तित्व होता है। यही सुख-दुःख का अनुभव करती है और यह शरीर से पृथक् है तथा अजर, अमर, अरूपी, अनित्य है। इस धारणा से यह और प्रमाणित हो गया है कि जिन कर्मों का फल इस प्रर्याय में प्राप्त नहीं हो सका है, वह फल आगामी पर्याय में भोगना पड़ेगा।

इसी प्रकार ईश्वर को जैन धर्म ने मान्यता तो दी है किन्तु ईश्वर को कर्त्ता-हर्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया है। सुख-दुःख दाता भी नहीं माना है। इस धर्म में ईश्वर को वीतरागी कहा गया है। यही कारण है कि ईश्वर पूजा में दया अथवा क्षमा के लिए इस धर्म में याचना निर्देशित नहीं की गयी है। ईश्वर को निस्पृही, सांसारिक बन्धनों से मुक्त बताया गया है।

ऐसा कहकर जैन धर्म ने, देवी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञादि में या विविध रूप से जीव-वध किए जाने या बलि चढ़ाये जाने से उत्पन्न पाप-फल भोगने से अपने अनुयायियों को बचाकर धार्मिक सूझ बूझ का परिचय दिया है तथा इतर धर्मों के समक्ष जीव हितैषी भावना को प्रस्तुत किया है।

ऐसी ईश्वर संबंधी धारणा से स्वावलम्बन की भावना का निर्माण होता है तथा हीन भावनाओं का विनाश होता है। वार्णिक भेद को भी प्रश्रय नहीं मिल पाता है। समानता की भावना उदित होती है। इतर सामाजिक बुराइयां भी उत्पन्न नहीं हो पातीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि यह मान्यता बनी रहती कि ईश्वर पापों को क्षमा कर सकता है, असद् कर्म जनित फल से बचा सकता है तो निश्चित ही आलस्य प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिलता, अज्ञान के गर्त में पड़े रहने की ही प्रकृति बनी रहती और असद् प्रवृत्तियों की पुनरावृत्ति में भी ऐसे लोग संकुचित न होते; फलस्वरूप सामाजिक-अशान्ति को प्रश्रय मिलता, परन्तु जैन धर्म की ईश्वर संबंधी मान्यता ने यह प्रमाणित कर दिया है कि ऐसी धारणाएं दु:खोत्पादक हैं,

मनुष्य अपना कल्याण करने के लिए स्वतंत्र है। पूजा अर्चना-आराधना कर अपने भावों को निर्मल बनाया जा सकता है और निर्मल भावों द्वारा निस्पृही बनकर, काषायिक भावों को जीतकर, निर्विषयी होकर वीतरागी साधना से वह कर्मजनित दु:खों का अन्त कर सकता है, यह उसकी आकांक्षा सामर्थ्य तथा विवेक पर आश्रित है— "नर चाहे नर बना रहे, या बन जाये नारायण,"

इस प्रकार 'स्वावलम्बन' की भावना को जन्म देना जैन धर्म के गहन चिन्तन का परिणाम है, यह भावना विश्व के लिए जैन धर्म की मौलिक देन कही जा सकती है, क्योंकि मुक्त, सतर्क, हितैषी ऐसा गहन चिन्तन अन्य धर्मों में न के बराबर ही उपलब्ध है,

ज्ञान की प्रधानता और मुक्ति की साधना— चिन्तन के अनुक्रम में जब हम ज्ञान और मुक्ति की साधना के संबंध में विचार करते हैं तो साधना के विविध रूप दिखायी देते है। साधन हेतु बौद्ध धर्म में जैसे मध्यम मार्ग की खोज की गई वैसे ही अन्य धर्मों ने भी साधना के सरलतम मार्ग को निर्देशित कर जन समूह को आकृष्ट किया। परन्तु जैन धर्म ने किसी भी प्रकार न केवल साधना के क्षेत्र में अपितु अपने मौलिक सिद्धान्तों में भी कभी कोई परिवर्तन नहीं किया। साधना के जैसे कठोर नियमों का जैन धर्म ने उल्लेख किया है, वैसे कठोर शारीरिक कष्टदायी नियमों का इतर धर्मों में समावेश नहीं किया गया है। नियमादि की कठोरता ही प्रधान कारण थी जो कि जैन धर्म कल्याणकारी धर्म होते हुए भी लोकधर्म न बन सका और भारतीय सीमाओं में ही सीमित रह गया। कड़वी गुणकारी भेषज के समान फिर भी यह धर्म विवेकवानों के बीच बना रहा है और यही कारण है कि आज भी इस धर्म का यथावत् अस्तित्व विद्यमान है।

जैन धर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। वीतरागता इस धर्म की आत्मा है। साधना भी वीतरागतामयी है। वीतरागता का ही प्रभाव है जो कि इस धर्म में बाह्याडम्बर को किसी भी प्रकार से प्रश्रय नहीं मिल सका है, और अन्य तत्त्वदर्शियों को भी यह प्रभावित कर सका है। जैन धर्म से प्रभावित होने के कारण ही संभवत: साधु कबीर इस धर्म की आलोचना करने में असमर्थ रहे प्रतीत होते हैं। उन्हें इतर धर्मों के समान इस धर्म में ऐसी कोई बुराई समझ में नहीं आई जिसका कि वे समाज में उल्लेख करते। यथार्थ में यह धर्म बाह्य नग्नता को जितना महत्त्व देता है उससे कहीं अधिक वह आन्तरिक भावों को महत्त्वपूर्ण समझता है। यही कारण है कि अन्तस्थ विचारों, भाषणों तथा शारीरिक विचरण पर नियंत्रण रखते हुए भावों में वीतरागता का लाना ही साधना की सफलता का मूलाधार इस धर्म में बताया गया है।

ज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि साधना का प्रधान साधन ज्ञान ही है। यह ज्ञान श्रद्धा के साथ-साथ ही उत्पन्न होता है। ज्ञान ही एक ऐसा साधन है त्रिगुप्ति पूर्वक जिसकी साधना से सहज ही कर्मों का विनाश किया जा सकता है। अनुभव में भी यही आता है कि सद्ज्ञानी सहज ही त्याज्य वस्तुओं को त्याज्य समझकर त्याग कर देता है जबकि आज्ञानी त्याज्य समझते हुए भी मोहाधीन होकर वस्तुओं का परित्याग नहीं कर पाता है। यदि किसी प्रकार विवशता वश त्याग भी दे तो उसकी प्राप्त्याशा बनी ही रहती है जो कि दु:ख का मूल कारण कहा गया है।

ज्ञान ही एक ऐसा साधन है जिसके होते ही क्रिया भी तदनुरूप परिणत होती है। मनसा वाचा-कर्मणा एक होना ही ज्ञान होने का प्रतीक है। यह ज्ञान इन्द्रियों और मन की सहायता से तथा तर्क द्वारा प्राप्त किया जाता है। जब कर्मों का आंशिक प्रभाव नष्ट हो जाता है तो अवधिज्ञान; तथा जब ईर्ष्या, घृणादि का नाश हो जाता है तब मन:पर्यय ज्ञान होता है। और जब सभी कर्मबन्धन नष्ट हो जाते हैं तब तीन लोक के पदार्थों का एक साथ ज्ञान कराने वाला केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। यथार्थ में सम्यक् ज्ञान यही है। जो चरित्र हमें बन्धन से छुड़ाता है वह सम्यक्चारित्र कहा जाता है। इस दर्शन-ज्ञान-चरित्र को इस धर्म में रत्नत्रय संज्ञा दी गई है और जिसे मुक्ति का मार्ग बताया गया है, जो मुक्ति अनन्त आनन्द का धाम सुखों का भंडार है।

इस प्रकार ज्ञान की महत्ता प्रतिपादिन कर विवेक बुद्धि उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। हिताहित का ज्ञान कराने वाला विवेक ही है जिसके अभाव में जीव दु:ख सागर में पड़ा हुआ है। और विवेक ही ऐसा साधन है जो असद् प्रवृत्तियों से मनुष्य को लौटा सकता है। तथा समाज में शान्ति स्थापित कर सकता है।

ऐसी अनुपम निधि की महत्ता प्रतिपादित करना जैन धर्म की एक विशेषता है। यदि मुक्ति को असीम सुखों का भंडार न कहा गया होता तो उसकी प्राप्ति के लिए कौन प्रयत्न करता। इसी प्रकार यदि ज्ञान में उसकी प्राप्ति का साधन न बताया गया होता तो जन समूह उसकी ओर आकर्षित न होता जिसके अभाव में विवेक शून्यता रहती और विवेक के अभाव में असद् प्रवृत्तियों में पड़कर यह मनुष्य न केवल सामाजिक शान्ति भंग करता अपितु स्वयं की शान्ति भी भंग कर बैठता।

जैन धर्म की अनेकान्त और स्याद्वाद-दृष्टियां भी उसकी मौलिक देन हैं। ये ऐसी दृष्टियां हैं जिनसे विसंवाद को सहज ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निपटाया जा सकता है। विवादास्पद तथ्यों के प्रति समाधान की उपलब्धि भी सहज हो गई है।

इस प्रकार जैन धर्म एक वैज्ञानिक, जीव-कल्याणकारी एवं समाज सुधारवादी, विवेकाश्रित धर्म प्रतीत होता है। इसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अनूठे हैं तथा अन्य धर्मों से पृथक् महत्त्व रखते हैं। इस धर्म की सैद्धान्तिक मौलिकता ही प्रधान कारण है जो कि राज्याश्रय प्राप्त न होने पर भी इस धर्म का स्थायित्व बना हुआ है। और ऐसे समाज से वह गौरवान्वित है जो सुखी और समृद्ध है। तथा समृद्धता से जो स्वयं के विवेकवान् होने का प्रमाण दे रही है।

धर्म की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि "धर्म वह है जो समीचीन अर्थात् वादी प्रतिवादियों द्वारा निराबाधित हो, कर्म-बन्धनों का विनाशक हो, और जीवों को जो संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुख की ओर ले जावे।" इस धार्मिक व्याख्या से भी यही प्रतीत होता है कि जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जो निस्पृही एवं जीव हितैषी है, जिसे धर्म संज्ञा दी जा सकती है। जीवकल्याण की सर्वोपरि भावना इस धर्म की महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक देन है। अतः शान्त्यर्थ यही धर्म आचरणीय प्रतीत होता है।

धन का सदुपयोग

अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

अन्याय से कमाया हुआ धन केवल दस वर्ष तक स्थिर रहता है और ग्यारहवाँ वर्ष प्रारम्भ होते ही वह समूल नष्ट हो जाता है। इसलिए न्यायपूर्वक धन कमाकर उसके चार भाग करने चाहिए। पहला भाग दान-धर्म में खर्च करें, दूसरा कुटम्बियों के पालन-पोषण में, तीसरा आपत्तिकाल के लिए कहीं सुरक्षित रूप से रख दें तथा चौथा भाग व्यापार में लगाना चाहिए इस प्रकार का नियम बनाकर धर्मात्मा श्रावकों को धर्म संचय करते रहना चाहिए। धर्म करने से हमारा धन कभी नहीं घटता। वह तो दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। कहा भी है कि—

प्यासे पक्षी के पिये घटे न सरिता नीर।
धर्म किए धन ना घटे जो सहाय जिन वीर॥

अर्थात् जिस प्रकार पक्षियों के पानी पीने से सरिता का नीर कम नहीं होता, उसी प्रकार जिनेश्वर भगवान् की शरण लेकर धर्म करने से धन कभी नहीं घटता। धन दौलत क्षणभंगुर है। वह किसी के पास स्थिर होकर रहने वाली नहीं है। जिस प्रकार पानी के बुद-बुदे बरसात में उठते हैं और थोड़ी देर बाद वे नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार हमारा धन-ऐश्वर्य क्षणिक है—

दौलत पाय न कीजिए सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को ठाऊं न रहत निदान॥
ठाऊं न रहत निदान जियत जग में यश लीजै।
मीठे बचन सुनाय विनय सब ही को कीजै॥

—आचार्य श्री देशभूषण, उपदेशसारसंग्रह, कोथली, १९७९, पृ० १३९, १४६, १९७ से उद्धृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org